7

धर्मसुधार और प्रबोधन (सन् 1300–1800)

पिछले अध्याय में हमने देखा कि किस तरह मध्यकाल के अन्त में नई सोच और कलाबोध का विकास हो रहा था। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार विभिन्न संस्कृतियों के आपस में मेल–मिलाप से सीखना–सिखाना शुरू हो गया था। धर्म इन सब बातों से कैसे अछूता रह जाता? मध्यकाल के अन्त में हम व्यापक पैमाने पर लोगों के धर्म और विश्वासों में बदलाव देख पाते हैं। यह भारत और इस्लामी देशों में क्रमशः भक्ति आन्दोलन और सूफी आन्दोलन के रूप में हुआ। यूरोप में रेनासाँ और वैज्ञानिक क्रान्ति के साथ–साथ एक और महत्वपूर्ण आन्दोलन, ईसाई धर्म में सुधार लाने का चल रहा था।

इन सबके बाद यूरोप में एक नया वैचारिक आन्दोलन चला जिसे *'प्रबोधन'* कहते हैं जिसके अन्तर्गत तर्क और आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास और वैज्ञानिक सोच का प्रसार हुआ। इसका प्रभाव भारत जैसे देशों पर भी पड़ा। इन सब बातों को हम इस अध्याय में समझने का प्रयास करेंगे।

XYX4XI

7.1 धर्म सम्बन्धी वाद–विवाद और धर्मसुधार

मध्यकाल के बारे में यह सामान्य धारणा है कि तब लोग धर्मभीरु थे और धर्माचार्यों एवं धर्मग्रन्थों के प्रति अन्धश्रद्धा रखते थे। आधुनिक काल में लोगों ने धर्मान्धता से निकलकर तार्किकता और वैज्ञानिक विचारों को स्वीकार किया। इस अध्याय में हम इन कथनों का परीक्षण करेंगे।

7.1.1 भारत में धार्मिक विविधता

यदि हम चौथी सदी के बाद के भारत को देखें तो पता चलता है कि यहाँ कई धर्मों, पन्थों तथा दर्शनों का चलन था। न केवल विभिन्न प्रदेशों में धार्मिक विविधता थी बल्कि एक क्षेत्र में भी लोगों के धार्मिक विश्वास अलग–अलग थे। यही नहीं, हम यह भी देखते हैं कि लोग एक–दूसरे के विचारों को सुनकर व समझकर अपने विचारों व विश्वासों को लगातार बदल रहे थे और नए विचारों को स्वीकार करने के लिए तैयार थे।

हर क्षेत्र में एक ओर वहाँ के जनजातीय समाज के लोग थे जो अपने पारम्परिक रीति–रिवाज़ों के अनुसार देवी–देवताओं की उपासना करते थे। दूसरी ओर वैदिक धर्म को मानने वाले लोग थे जिनमें ब्राह्मण अग्रणी थे। इनमें से कई लोग वेदों को तो मानते थे मगर उसमें वर्णित कर्मकाण्डों या देवी देवताओं की जगह शिव, विष्णु आदि की उपासना करते थे। वैदिक ब्राह्मणों में भी कई लोग थे जो वैदिक कर्मकाण्ड की जगह देवताओं की मूर्ति स्थापित करके पूजा–पाठ करते थे या फिर घर–गृहस्थी त्यागकर ब्रह्म का ध्यान करने में विश्वास रखते थे। इन सब लोगों ने अपने–अपने विचारों के समर्थन में ग्रन्थ लिखे, एक–दूसरे से शास्त्रार्थ किए और अपने अनुयायियों को अपने विचार व आचरण सिखाए। इनमें से प्रमुख थे वैशेषिक, मीमांसावादी और वेदान्ती। (जो लोग वेदों के अन्तिम भाग यानी

चित्र 7.1 : दो विद्वानों के बीच वाद–विवाद
खजुराहो मन्दिर में बना शिल्प (लगभग सन् 1000 ई.)

उपनिषद के विचारों को अपना आधार मानते थे उन्हें वेदान्ती कहते हैं।) बाद में जाकर वेदान्त मार्ग के लोगों का प्रभाव बढ़ा लेकिन उनमें भी अनेक शाखाएँ बनीं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण विचारक थे आठवीं सदी के आदि शंकराचार्य। उनके विचार में अन्तिम सत्य एक ही है जिसे उन्होंने 'ब्रह्म' कहा। उनके अनुसार बाकी सब मिथ्या है और सत्य तक पहुँचने के लिए हमें संसार त्यागकर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। अपने विचार के समर्थन में उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे। फिर भी बहुत से वेदान्ती उनसे सहमत नहीं थे। उनमें से एक थे बारहवीं सदी के रामानुजाचार्य जिनका मानना था कि अन्तिम सत्य तो ईश्वर है जो दुनिया की सृष्टि, पालन और विनाश करता है। इसके अलावा जीव भी हैं जो उस ईश्वर में लीन होने के लिए आतुर है और यह भक्ति के माध्यम से हो सकता है। इसके बाद सदियों तक इन दोनों विचारकों के अनुयायियों के बीच वाद–विवाद चलता रहा और इस बीच नए–नए विचार उत्पन्न हुए। यह तो हुई बात वैदिक ब्राह्मणों की एक शाखा की। इनके अलावा वैदिक परम्परा में शिव को पूजने वाले शैव, शक्ति को पूजने वाले शाक्त, विष्णु को पूजने वाले वैष्णव आदि हुए। इनका भी आपस में वाद–विवाद चलता रहा कि कौन सब से बड़े ईश्वर हैं, उस तक कैसे पहुँचें आदि। इनमें से प्रत्येक में भी अनेक शाखाएँ थीं।

एक ही देवता की भक्ति के लिए इतने अलग–अलग मार्ग कैसे और क्यों बनते होंगे, इस पर कक्षा में चर्चा करें।

आप जिस धर्म को मानते हैं उसकी विभिन्न शाखाओं के बारे में कक्षा में बताएँ।

वैदिक परम्परा से बाहर भी अनेक धर्म और सम्प्रदाय थे, जैसे– बौद्ध, जैन, आजीविक आदि। पहली सदी से ही ईसाई धर्म का आगमन केरल और तमिलनाडु में होने लगा था। सातवीं सदी के बाद इस्लाम को मानने वालों की आबादी गुजरात से केरल और उत्तर भारत में बढ़ी। ये वेदों और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को नहीं मानते थे। इनमें से कई ऐसे थे (जैसे– जैन मत या बौद्ध मत) जो ईश्वर को भी नहीं मानते थे। इनमें से प्रत्येक की कई शाखाएँ और उपशाखाएँ थीं।

ग्यारहवीं सदी में उत्तरी भारत में तुर्कों का राज्य बना जो इस्लाम धर्म को मानते थे। उसी समय मध्य एशिया के इस्लामी प्रदेशों पर मंगोल कबीलों का आक्रमण हुआ। मंगोल कबीले चीन और इस्लामी देशों के बीच के मैदानों में रहने वाले पशुपालक थे जिन्होंने तेरहवीं शताब्दी में पूरे इस्लामी राज्यों पर आक्रमण करके उन्हें ध्वस्त कर दिया था। उनके प्रकोप से बचने के लिए अनेक इस्लामी विद्वानों और सूफी सन्तों ने भारत में शरण ली। इस्लाम में भी कई शाखाएँ थीं, जैसे– सुन्नी और शिया। इनमें भी आपस में वाद–विवाद और शास्त्रार्थ चलता रहा और विभिन्न विचारों के पक्ष में अनेक ग्रन्थ रचे गए।

इस्लामी सन्तों व शासन के प्रभाव में भारत में कई लोगों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार किया। जिन्होंने इस्लाम धर्म को स्वीकार किया उन्होंने भी अपने पुराने धर्म और रीति–रिवाज़ों के कई तत्वों को बनाए रखा। इन बातों का एक प्रबल उदाहरण है पीरों की (इस्लामी सन्त) दरगाहों के प्रति श्रद्धा। अरब और ईराक जैसे देशों में पीरों की मज़ारों के प्रति अधिक आस्था नहीं देखी जाती, लेकिन भारत में जो प्रमुख सूफी सन्त थे, (जैसे– ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती और हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया) उनकी दरगाहों पर लोग ज़ियारत (तीर्थ यात्रा) करने लगे। उन दरगाहों के बारे

में यह मान्यता बनी कि वहाँ उनकी बरकत (कृपा) बनी हुई है और उनके आशीर्वाद से हमारी मनोकामनाएँ पूरी हो सकती हैं। इस तरह के विश्वास न केवल मुसलमानों में बने, बल्कि उन लोगों में भी बने जो मुसलमान नहीं थे। वे भी इन मज़ारों में प्रार्थना करने लगे। अक्सर वे इन सन्तों के विचारों को भी धीरे–धीरे अपनाने लगे कि ईश्वर एक ही है और वह निराकार है, उसके सतत् स्मरण और प्रेमभाव से उस तक पहुँच सकते हैं।

आम लोगों के धार्मिक विश्वासों में भी काफी विविधता थी। इनमें समय के साथ लगातार बदलाव आ रहे थे। हर समुदाय के अपने–अपने देवी–देवता और उपासना के तरीके थे। जब ये समुदाय एक–दूसरे के करीब आए और साथ–साथ रहने लगे तो वे एक–दूसरे के देवी–देवताओं को भी अपनाने लगे।

हम आम लोगों के धार्मिक विश्वासों में अक्सर कई धर्मों के प्रभावों को देख सकते हैं। क्या आप इसके कुछ उदाहरण दे सकते हैं?

मध्यकालीन भारत के धर्म में बहुत विविधता थी। इन विविध सम्प्रदाय व पन्थों को मानने वालों में आपस में बहस और विवाद भी होते रहते थे। लोग एक–दूसरे की बातों को मानते भी थे पर कभी–कभी लड़ाई झगड़े भी होते थे। इसके बावजूद विविधता बनी रही। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि इन धर्मों में कोई एक अधिकारिक केन्द्र नहीं बना। किसी एक केन्द्र या संस्था या व्यक्ति को यह अधिकार नहीं था कि वह सबको बताए कि सही क्या है और गलत क्या है। हर व्यक्ति या पन्थ अपने स्तर पर सही गलत तय करने के लिए स्वतंत्र था। हर व्यक्ति अपनी ज़रूरत, अनुभव, रुचि के अनुरूप अपना पन्थ चुन सकता था, लेकिन धार्मिक लचीलेपन के साथ सामाजिक रूढ़िवादिता जुड़ी हुई थी। मध्यकाल में जाति व्यवस्था लगभग पूरे भारत में प्रभावशाली होती गई जिसके कारण धर्मग्रन्थों का अध्ययन, मन्दिरों में पूजा और प्रवेश जाति और जन्म से निर्धारित होने लगा। जातिगत सीमाओं को लाँघने पर दण्ड दिया जाता था।

मध्यकालीन भारतीय समाज में जातिगत भेदभाव के साथ–साथ धन और सत्ता के आधार पर भी अत्यधिक सामाजिक असमानताएँ थीं। सल्तनत और मुगल शासन का प्रयास था शक्ति और संसाधन का केन्द्रीकरण करना। इसके फलस्वरूप उनके अधिकारी जिन्हें मनसबदार और जागीरदार कहते थे, दमनकारी और शोषणकारी होते गए।

उसी समय चाहे वह मुगल शासन हो या विजयनगर जैसे क्षेत्रीय राज्य, उनकी नीति में धार्मिक सहिष्णुता महत्वपूर्ण होती जा रही थी। राजा व बादशाह यह समझने लगे कि एक बहुधर्मी देश पर शासन करने के लिए लोगों की धार्मिक स्वतंत्रता का सम्मान करना ज़रूरी है। राज्य को धर्म के आधार पर भेदभाव यथासम्भव नहीं करना चाहिए। इसी नीति को मुगल बादशाह अकबर और उसके सलाहकार अबुल फज़ल ने 'सुलह कुल' की नीति कहा। अकबर का कहना था कि बादशाह ईश्वर का प्रतिनिधि है और जिस तरह ईश्वर अपनी कृपा (वर्षा और धूप

चित्र 7.2 : दरगाह पर मन्नत माँगते लोग

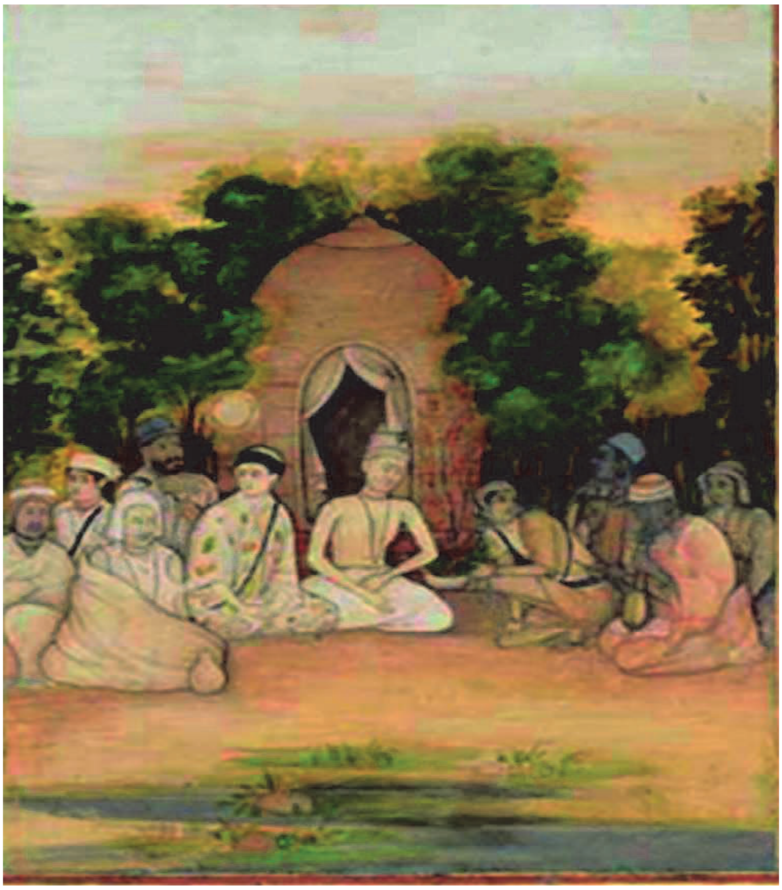

चित्र 7.3 : मीर मीराँ द्वारा बनाए गए सत्रहवीं सदी के एक चित्र में कबीर और अन्य भक्तगण।

के रूप में) हर धर्म के मनुष्यों पर समान रूप से बरसाता है, उसी तरह बादशाह को भी किसी से धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। उसकी ज़िम्मेदारी है कि राज्य में जितने लोग हैं वे शान्ति से रहें और समृद्धि पाएँ। यानी बादशाही किसी एक धर्म के लोगों के लिए नहीं बल्कि सभी धर्मों के लोगों के लिए है। अकबर एक तरह का बुद्धिवादी था जो परम्परागत अन्धविश्वासी धर्म को स्वीकार नहीं करना चाहता था। वह चाहता था कि हर धर्म की अच्छाई को हम अपनी बुद्धि द्वारा पहचानकर स्वीकार करें और जो गलत लगता है, उसे छोड़ दें। कुछ इसी तरह की भावना तत्कालीन भक्ति सन्तों में देखी जा सकती है।

इसी सामाजिक असमानता, भेदभाव, धार्मिक विविधता और वैचारिक टकरावों के बीच कबीर, रैदास, दादू दयाल, मीरा, तुलसीदास, सूरदास, गुरुनानक आदि संत हुए। इनमें से कई लोग ऐसे थे जिन्होंने उस काल के विभिन्न धर्मों की रूढ़िवादिता को नकारा और यह बताने का प्रयास किया कि ईश्वर एक है और उन तक पहुँचने के लिए किसी कर्मकाण्ड या मन्दिर या मस्ज़िद की ज़रूरत नहीं है, केवल उनके प्रति असीम प्रेम और दूसरे मनुष्यों की पीड़ा को दूर करने के प्रयास की ज़रूरत है।

इस तरह के विचारों को नए उभर रहे सामाजिक तबकों, जैसे– कारीगर, छोटे व्यापारी, किसान आदि ने उत्साह के साथ अपनाया। इनमें से कुछ जैसे– नानक पन्थ, दादू पन्थ और कबीर पन्थ जैसे विशिष्ट पन्थ बने। इनके विचार जनसामान्य के बीच उनके गीतों के माध्यम से पहुँच रहे थे। जनसामान्य में से कुछ जो उन विचारों से अधिक प्रभावित थे, इन पन्थों में शामिल हुए और विशेष आचरण, वेशभूषा आदि के माध्यम से अपने पन्थ की पहचान बनाई। ऐसा ही एक पन्थ सतनामियों का आज के हरियाणा राज्य में था। उन्होंने जात–पात के भेदभाव तथा धार्मिक कर्मकाण्डों को समाप्त करने का प्रयास किया। यही नहीं, उन्होंने मुगल शासन के दमनकारी अधिकारियों का भी पुरजोर विरोध किया। इस सम्प्रदाय की शुरुआत सन् 1657 में नारनौल में हुई थी। वे एक सृष्टिकर्ता ईश्वर में विश्वास करते थे और उसकी उपासना के लिए मन्दिर या मूर्तिपूजा की जगह सामूहिक भजन गायन करते थे। कहा जाता है कि वे कबीर और नानक के भजन गाते थे। वे घर बार त्यागने की जगह किसानी और गृहस्थ जीवन बिताते हुए ईश्वर का ध्यान करने का आग्रह करते थे। छत्तीसगढ़ में भी धर्म सुधार/सामाजिक सुधार में कबीर पंथ (दामाखेड़ा) एवं सतनाम पंथ (गुरु घासीदास, गिरोदपुरी) ने प्रभावी कार्य किया।

आपने कबीर और गुरु घासीदास के विचारों के बारे में पढ़ा होगा। उनके धार्मिक विचारों में क्या विशेषता थी और क्या नया था– पता करें और कक्षा में चर्चा करें।

तीन महिला भक्त

मध्यकाल में सभी धार्मिक संस्थाओं पर पुरुषों का ही एकाधिकार था और महिलाओं को धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से दूर रखा जाता था। धर्माचार्य पुरुष ही होते थे और वे पुरुषों को ही सम्बोधित करते थे। इस कारण उन्होंने अक्सर महिलाओं को धार्मिक मार्ग में बाधा के रूप में देखा।

लेकिन उसी समय कई ऐसी भी महिलाएँ थीं जो घर–गृहस्थी छोड़कर स्वतंत्र धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगीं। कई धार्मिक सम्प्रदाय ऐसे भी हुए जिन्होंने महिला भक्तों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उदाहरण के लिए कर्नाटक के नए भक्ति सम्प्रदाय– वीरशैवों ने अक्कमादेवी (जन्म सन् 1130, मृत्यु सन् 1160) को अपना महत्वपूर्ण गुरु माना। आज भी उनके भक्ति वचनों को वहाँ घर–घर में गाया जाता है।

अक्कमादेवी ने अपने पति व परिवार को त्यागकर और यहाँ तक कि समाज द्वारा स्थापित स्त्रियोचित व्यवहार की सीमाओं को लाँघकर जीवन जिया। वे स्वच्छन्द विचरण करतीं, अन्य भक्तों के साथ ईश्वर भक्ति के सम्बन्ध में चर्चा करतीं और भजन करतीं। उनके वचनों में बाह्य–आडम्बर, मूर्तिपूजा, मन्दिर, कर्मकाण्ड आदि की कटु आलोचना है और ईश्वर के प्रति असीम प्रेम की भावना है।

इसी तरह कश्मीर में लल्ल दद (जन्म सन् 1320, मृत्यु सन् 1390) हुईं जिन्होंने शैव सम्प्रदाय की होते हुए भी सूफी सन्तों (जिन्हें ऋषि कहा जाता था) के साथ मिलकर एक ईश्वर का विचार लोगों के सामने रखा। बाल विवाह से त्रस्त लल्ल घर–परिवार त्यागकर सन्यासिनी बन गईं और गाँव–गाँव विचरण करते हुए उन्होंने अपने लोकप्रिय गीतों के माध्यम से लोगों को कर्मकाण्ड रहित ईश्वर प्रेम का पैगाम दिया।

मध्यकालीन महिला भक्तों में से सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं मीरा जो राजस्थान के एक सामन्तवादी राजपूत परिवार में ब्याही थी और छोटी उम्र में ही विधवा हो गई थीं। श्रीकृष्ण के प्रति अपार प्रेम और भक्ति के कारण वे सन्त रैदास की शिष्या बन गईं। मीरा अन्य भक्तों के साथ भजन करती, नाचती व गाती थीं। इससे क्रुद्ध होकर राजा ने मीरा को मार ड़ालने का प्रयास किया और उन्हें राजमहल से निकाल दिया। आज भी मीरा के पद पूरे देश में गाए जाते हैं। मीरा न केवल भक्ति का प्रतीक बन गईं हैं बल्कि पुरुषप्रधान, जातिवादी, सामन्ती सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की प्रतीक बन गईं हैं।

7.1.2 इस्लामी समाजों में धार्मिक विविधता

हमने पिछली कक्षाओं में पढ़ा है कि किस तरह अरब में इस्लाम धर्म की शुरुआत हुई। पैगम्बर मोहम्मद साहब ने आपस में झगड़ने वाले अरब कबीलों के बीच एकेश्वरवाद, ईश्वर की सब सन्तानों के बीच भाईचारा, उनके समक्ष सबकी समानता आदि बातों को फैलाया और उनमें एकता की भावना जगाई। साथ–साथ उन्होंने मूर्तियों व प्रतीकों की आराधना, कर्मकाण्ड और पुजारियों का सख्त विरोध किया और सरल तरीके से सामूहिक प्रार्थना के द्वारा ईश्वर तक पहुँचने की बात कही। इन विचारों की प्रेरणा से इस्लाम धर्म शीघ्र ही मध्य एशिया से लेकर ईरान, ईराक, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, और तुर्की तक फैल गया। इस्लाम के साथ–साथ इन सारे देशों ने अरबी भाषा को साहित्यिक, और धार्मिक भाषा के रूप में अपनाया। इस कारण उस काल की इस्लामी सभ्यता को अरब सभ्यता भी कहा जाता है।

सन् 1300 तक बंगाल से लेकर स्पेन तक इस्लामी राज्य फैले हुए थे। भारत को छोड़कर अधिकांश देशों में इस्लाम ही लोगों का प्रमुख धर्म था और ईसाई या यहूदी अल्पसंख्यक समुदाय थे। लेकिन हम पाते हैं कि इस्लाम में भी बहुत विविधता थी। हालाँकि इन सभी इस्लामी सम्प्रदायों ने कुरान शरीफ को ईश्वर का पैगाम माना और मोहम्मद नबी को उनका पैगाम पहुँचाने वाला पैगम्बर माना, फिर भी 'इस्लाम का मतलब क्या है', 'कुरान का असली मतलब और निहितार्थ क्या है', 'हमें क्या करना है,' 'कैसे जीवन बिताना है,' 'ईश्वर का स्वरूप क्या है' इस तरह के सवालों को लेकर बहुत मतभेद थे। एक बुनियादी मतभेद तो शिया और सुन्नी मुसलमानों में बना। पैगम्बर के बाद क्या दैवीय सत्ता उनके परिवार के उत्तराधिकारियों में भी है? शिया मानते थे कि पैगम्बर के वंशजों को मुसलमानों के इमाम या रहनुमा माना जाना चाहिए। लेकिन यह सुन्नियों को स्वीकार नहीं था और वे किसी परिवार या व्यक्ति को विशेष दर्जा देने के पक्ष में नहीं थे। बाद में शिया और सुन्नी दोनों के अन्दर कई विभेद होते चले गए।

चित्र 7.4 : गीत और संगीत के द्वारा ईश्वर की आराधना – ईरानी चित्र

आगे चलकर और गहरे मतभेद उभरे, खासकर उन लोगों के कारण जिन्होंने यूनानी दर्शन का अध्ययन किया था। इन्हें मोतज़ला सम्प्रदाय कहते हैं। इनके अनुसार मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतंत्र है, यानी उसका काम पूरी तरह ईश्वर की इच्छानुसार नहीं होता है। अगर उसे यह स्वतंत्रता नहीं होती तो उसे उसके काम के लिए पुरस्कार या दण्ड नहीं दिया जा सकता है। एक और विचार था कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता है क्योंकि वह गलत काम या अन्याय नहीं कर सकता है। उनका यह भी मानना था कि दैवी चमत्कार या अप्राकृतिक घटनाएँ असम्भव हैं क्योंकि हर एक पदार्थ के अपने गुण होते हैं जो कभी बदल नहीं सकते। उनका यह भी कहना था कि क़ुरान शरीफ का महत्व ईश्वर के समान नहीं हो सकता है क्योंकि वह ईश्वर का बनाया हुआ है। यानी ईश्वर की बाकी सृष्टि की तरह उसकी भी स्वतंत्र व्याख्या की जा सकती है। उनका मानना था कि ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है ताकि वह भलाई और बुराई में अन्तर कर सके। इस कारण मनुष्य को किसी ग्रन्थ के कथन से बढ़कर अपने विवेक का उपयोग करना चाहिए।

इस तरह के तर्कों को लेकर इस्लाम में बहुत वाद–विवाद हुआ और यहाँ तक कि कुछ विचारों को इस्लाम विरुद्ध माना गया। मोतज़ला सम्प्रदाय के खिलाफ करामी सम्प्रदाय का उदय हुआ और अश्अरी सम्प्रदाय ने दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया, लेकिन इस्लाम में ऐसा कोई प्रावधान नहीं था कि कोई मौलवी या खलीफा या सुल्तान यह दावा करे कि वह सब की ओर से इस्लाम की आधिकारिक व्याख्या कर सकता है। विभिन्न लोग केवल अपने विचार रख सकते थे और दूसरों से आग्रह कर सकते थे कि उसे ही सच्चा इस्लाम मानें। लेकिन उनके विचार माने ही जाएँ ऐसा ज़रूरी नहीं था।

इस्लाम की व्याख्या के विकास में यूनानी दार्शनिक और वैज्ञानिक साहित्य और आध्यात्मवादी सूफी सन्तों का यह प्रभाव महत्वपूर्ण रहा। जिन विद्वानों ने यूनानी ग्रन्थों का अध्ययन किया वे तार्किक सोच, वैज्ञानिक अन्वेषण आदि पर ज़ोर देते थे और संकीर्ण धार्मिक सोच से हटना चाहते थे। उनके प्रयास से मानव शरीरशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, गणित, खगोलशास्त्र तथा कीमियागिरी (रसायनों का अध्ययन जिसमें लोग लोहे या अन्य धातुओं को सोना बनाने की विधि खोजते और प्रयोग करते थे) को बहुत बढ़ावा मिला। उन्होंने यूनानी ग्रन्थों के अलावा चीन और भारत के वैज्ञानिक और गणितीय साहित्य का भी अध्ययन किया और अनुवाद किया। इनमें प्रमुख थे अलबरूनी जिन्होंने लगभग एक हज़ार साल पहले भारत में कई वर्ष बिताकर यहाँ के ग्रन्थों को पढ़ा और अरबी में अनुवाद किया। एक और व्यक्ति थे इब्न सीना (जन्म सन् 980, मृत्यु सन् 1037), जो उस काल के प्रमुख वैद्य और दार्शनिक थे। चिकित्सा और दर्शन के बारे में उनकी पुस्तकों का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ और आधुनिक काल की शुरुआत तक इसे चिकित्सकों को पढ़ाया जाता रहा। यूरोपीय चिन्तन पर प्रभाव छोड़ने वाले इस्लामी दार्शनिकों में ईरान के गणितज्ञ अल ख्वारिज़्मी (जन्म सन् 780, मृत्यु सन् 850) तथा स्पेन के अल रुश्द (जन्म सन् 1126, मृत्यु सन् 1198) के नाम अग्रणी हैं। अल रुश्द प्रसिद्ध चिकित्सक थे उन्होंने अरस्तू (एरिस्टोटल) व अफलातून (प्लैटो) की पुस्तकों पर टीका भी लिखी। इसके अलावा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मनुष्य को अपने आसपास की दुनिया का अध्ययन करना चाहिए और यह धर्म विरोधी नहीं है। उनका मानना था कि दर्शन (तार्किक सोच) और विज्ञान की मदद से हम ईश्वर को भी समझ सकते हैं। यह विचार परम्परावादी मौलवियों व सूफियों के विचारों के विपरीत था। अल रुश्द जैसे इस्लामी दार्शनिकों की पुस्तकों का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हुआ। ये अनुवाद यूरोपीय वैचारिक क्रान्ति का एक कारक बने। सूफी सन्तों के विचार इन दार्शनिकों से भिन्न थे। सूफी सन्त यह मानते थे कि मनुष्य जीवन का ध्येय ईश्वर को प्राप्त

करके उसमें समा जाना है। यह ईश्वर से गहरे प्रेम के द्वारा ही हो सकता है। उन्होंने माना कि तार्किक सोच, दर्शन या फिर बाहरी कर्मकाण्ड आदि इसमें बाधक होंगे। उनका मानना था कि मनुष्य विशेष साधनाओं, जैसे– ध्यान, जाप आदि से चरण–दर–चरण ईश्वर तक पहुँच सकता है। कुछ सूफी तो यहाँ तक मानते थे कि मनुष्य और ईश्वर में कोई दूरी या अन्तर नहीं हो सकता है। कई सूफियों ने बौद्ध और योग के ग्रन्थों को फारसी में अनुवाद किया और उनका गहन अध्ययन किया। इस तरह के दार्शनिकों और सूफियों के विचारों से परम्परावादी मुसलमान असहमत थे। उन्होंने उनका पुरज़ोर विरोध किया और उन्हें यातनाएँ भी दीं लेकिन इन विचारों को मिटाया नहीं जा सका और वे विकसित होते गए।

महिलाओं पर अल रुश्द के विचार

अल रुश्द दुनिया के ऐसे विचारकों में से थे जिन्होंने महिलाओं को समान दर्ज़ा देने की वकालत की थी। उनका मानना था कि महिलाएँ पुरुषों के बराबर की क्षमता रखती हैं और पुरुषों के स्वार्थ के कारण उन्हें पुरुषों की सेवा तक सीमित रखा गया है। इससे समाज को हानि पहुँचती है क्योंकि समाज सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं के योगदान से वंचित रह जाता है। अपने कथनों के पक्ष में उन्होंने अनेक महिला शासकों का उदाहरण दिया जिन्होंने मौका मिलने पर न केवल अच्छा प्रशासन दिया बल्कि युद्ध में भी सफल सेनापति साबित हुईं।

इस्लाम में किन सवालों को लेकर धार्मिक मतभेद उभरे थे?

दार्शनिकों और सूफियों के विचारों में क्या अन्तर थे?

7.1.3 यूरोप में कैथोलिक चर्च और धार्मिक सुधार

जैसा कि हम जानते हैं ईसाई धर्म की शुरुआत पश्चिमी एशिया के फिलिस्तीन प्रदेश में पहली सदी में हुई थी। तब यह रोमन साम्राज्य का हिस्सा था। तीसरी सदी तक यह नया धर्म रोमन साम्राज्य में फैल गया और आठवीं सदी तक पूरे यूरोप के लगभग सारे लोग इसे अपना चुके थे।

लगभग चौथी सदी से ईसाई धर्म चर्च पर केन्द्रित था। रोम में स्थित चर्च का दावा था कि हर ईसाई को अनिवार्य रूप से चर्च का सदस्य बनना होगा और धार्मिक विषयों पर चर्च की ही बातों को स्वीकार करना होगा। इसे रोमन कैथोलिक चर्च (कैथोलिक यानी सार्वभौमिक) कहा जाता था। चर्च का ढाँचा मोहल्ले या गाँव से शुरू होकर क्षेत्रीय और विश्व स्तर पर नियोजित था। हर क्षेत्र के लिए एक बिशप और उनसे ऊपर कार्डिनल नामक पादरी नियुक्त होते थे और सबसे ऊपर पोप जो चर्च के उच्चतम अधिकारी होते थे।

उस समय की राजनैतिक व्यवस्था भी कुछ ऐसी थी कि राजाओं को पोप की धार्मिक सत्ता को स्वीकार करना पड़ा। एक तरह से राज्य और धर्म के अधिकारी संयुक्त रूप से शासन चलाते थे। ऐसे में धार्मिक विश्वासों की विविधता या धार्मिक सहिष्णुता या व्यक्ति द्वारा अपना धार्मिक रास्ता चुनने के अधिकार का सवाल ही नहीं था। यह माना गया था कि एक अच्छे ईसाई का जीवन जीने और मुक्ति पाने के लिए पादरियों और उनके द्वारा संचालित कर्मकाण्डों की परम आवश्यकता है। धर्म का आधार–ग्रन्थ 'बाईबल' था जो लैटिन भाषा में था, जिसे प्रायः सामान्य लोग नहीं समझते थे। इस कारण धर्म की व्याख्या पर पादरियों का एकाधिकार स्थापित हुआ। चर्च एक न्यायालय के रूप में भी काम करता था जिसके शीर्ष पर पोप होता था।

चर्च के पास अपार भू सम्पत्ति थी जिसे वह सामन्ती भूस्वामी की तरह संचालित करता था। इसके अलावा हर ईसाई व्यक्ति से उसकी आय का दसवाँ हिस्सा धार्मिक टैक्स के रूप में वसूल किया जाता था। राजकीय सत्ता, धर्म, न्याय, और अपार धन पर नियंत्रण के कारण कैथोलिक चर्च का वर्चस्व था। उसके विरुद्ध आवाज़ उठाना राजद्रोह के बराबर माना जाता था। इन बातों का पादरियों पर भी असर पड़ा और मध्यकाल के अन्त तक वे विशेष वैभव और विलास में जीने लगे।

रेनासाँ काल में चर्च विशाल भवनों का निर्माण करवा रहा था और साथ में उनकी शानो–शौकत बढ़ रही थी। इस कारण बढ़ते खर्च को पूरा करने के लिए चर्च ने नए तरीके अपनाए। वह श्रद्धालुओं को माफीनामा (क्षमापत्र)–यह

चित्र 7.5 एक विशाल भवन का नक्शा देखते हुए एक पोप

कहकर बेचने लगा कि "अगर तुमने कोई पाप किया हो तो उसके लिए चर्च को एक राशि देकर माफी पा सकते हो; पोप इस पैसे के बदले माफीनामा देंगे। ईश्वर के सामने जब पहुँचोगे तो इसे दिखाकर माफी पा सकते हो।"

हमने पिछले अध्याय में पढ़ा था कि किस तरह एरासमस जैसे मानववादी बुद्धिजीवियों ने चर्च के कई सिद्धान्तों व व्यवहार की आलोचना की थी। इन्हें ईसाई मानववादी कहते हैं। वे चर्च के विरुद्ध किसी बगावत की बात नहीं कर रहे थे बल्कि उसमें आन्तरिक सुधार की माँग कर रहे थे। इसी दौर में चर्च विरोधी आन्दोलन भी प्रबल हो रहे थे जिसमें गरीब तबके के लोग, किसान और कारीगर अधिक संख्या में शामिल हो रहे थे। वे बाह्य कर्मकाण्ड का विरोध कर रहे थे और आन्तरिक आस्था और निष्ठा पर ज़ोर देते थे। इस बीच उत्तरी यूरोप में राष्ट्रवाद की धारा उभरने लगी थी जिसके चलते चर्च की सत्ता को चुनौती दी जाने लगी थी। इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि देशों के शासक पोप की सत्ता से स्वतंत्र होना चाहते थे। उनकी नज़र चर्च की अपार सम्पत्ति पर भी थी। इसी पृष्ठभूमि में मार्टिन लूथर ने कैथोलिक चर्च के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया।

7.1.4 मार्टिन लूथर और धर्मसुधार

मार्टिन लूथर जर्मनी के एक पादरी थे जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बाह्य कर्मकाण्डों के द्वारा मोक्ष पाना असम्भव है। इसे दैवीय कृपा और अन्तःकरण की निजी आस्था या विश्वास से ही प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने सन् 1517 में पोप द्वारा जारी माफीनामा के विरुद्ध 95 विचार बिन्दु जारी किए और कहा कि न ही पाप से इस तरह मुक्ति पाई जा सकती है और न ही ऐसे बाह्य कर्मों से मोक्ष पाया जा सकता है। देखते–देखते लूथर का दस्तावेज़ छपाई की मदद से दूर–दूर तक फैल गया। जन साधारण से लेकर शासकों ने भी उनका समर्थन किया। पोप ने सन् 1520 में लूथर को धर्म से बाहर कर दिया और उन्हें अधार्मिक करार दिया। उसी वर्ष लूथर ने तीन पुस्तकें प्रकाशित करके अपने विचारों को जनसामान्य के बीच फैलाया। बाद में इस विचार ने प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय का रूप लिया। लूथर के पक्ष में व्यापक जनसमर्थन को देखते हुए राजाओं द्वारा भी उनके खिलाफ कोई कदम नहीं उठाया जा सका। जर्मनी की कई छोटी रियासतों ने अपने कैथोलिक सम्राट पर दबाव डाला और सन् 1555 में प्रजा को अपना धर्म प्रोटेस्टेन्ट या कैथोलिक चुनने का अधिकार दिया गया। प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय दरअसल एक सम्प्रदाय नहीं था, उसमें लूथर, कैल्विन, ज्विंगली आदि के विचारों से प्रेरित अनेक धाराएँ थीं।

अब प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय की मुख्य विशेषताओं पर विचार करें। हालाँकि प्रोटेस्टेन्टवाद में अनेक धाराएँ सम्मिलित थीं, फिर भी उनमें कुछ समानताएँ हम पहचान सकते हैं। पहला तो यह कि वे मानते हैं कि मोक्ष किसी बाह्य कर्मकाण्ड से नहीं मगर ईश्वरीय कृपा और आन्तरिक विश्वास से प्राप्त हो सकता है। इसका यह भी मतलब था कि मनुष्यों को किसी पादरी या उसके द्वारा किए गए कर्मकाण्ड की ज़रूरत नहीं है। वे यहाँ तक मानते थे कि हर ईसाई खुद एक पादरी बनकर ईश्वर से सम्पर्क कर सकता है।

चित्र 7.6 : मार्टिन लूथर, एक समकालीन चित्र

प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायों ने यह भी माना कि धर्म की व्याख्या के लिए पादरी वर्ग पर निर्भर न होकर हर ईसाई को खुद बाईबल का अध्ययन करके अपनी निजी व्याख्या करनी चाहिए। इसे सम्भव बनाने के लिए उन्होंने बाईबल का

प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद किया और छापाखानों की मदद से जन–जन तक पहुँचाया। सन् 1522 में लूथर ने बाईबल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया।

इन सब बातों का प्रभाव कैथोलिक चर्च पर भी पड़ा। चर्च में आन्तरिक सुधार का एक अभियान चला जिसे 'प्रतिधर्मसुधार' कहते हैं।

असीसी के संेट फ्रांसिस – चर्च में गरीबी की वकालत

एक तरफ चर्च अथाह सम्पत्ति, शान और शौकत का प्रतीक बन रहा था तो दूसरी तरफ ऐसे कई धार्मिक व्यक्ति हुए जिन्होंने ईसा मसीह के मूल सन्देशों को जीवन में उतारने का प्रयास किया। सेन्ट फ्रँासिस (मृत्यु सन् 1226) ऐसे ही एक सन्त थे। वे इटली के असीसी शहर के एक धनी व्यापारी परिवार में पैदा हुए थे मगर युवावस्था में उन्हें अहसास हुआ कि गरीब बनकर ही ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है। वे अपना सब कुछ गरीबों को बाँटने लगे जिस पर क्रुद्ध होकर उनके पिता ने उन्हें घर से बाहर कर दिया। तब से उन्होंने शहर के सबसे गरीब लोगों के बीच रहकर खुद माँगकर खाने वाले और मज़दूरी करने वाले का जीवन जिया। यही नहीं, उन्होंने यह भी माना कि प्रकृति के सारे जीवों, जैसे– पक्षियों व जानवरों–से प्रेम करना चाहिए। यह माना जाता है कि वे पक्षियों व जानवरों के साथ बात कर सकते थे। उन्होंने यह भी प्रयास किया कि इस्लामी सुल्तान और ईसाईयों के बीच सुलह हो। पोप की अनुमति के साथ उन्होंने ऐसी महिलाओं व पुरुषों का समूह स्थापित किया जो गरीबी में रहने और गरीबों की सेवा में विश्वास रखता था।

कुल मिलाकर धर्मसुधार आन्दोलन का परिणाम केवल कैथोलिक धर्म की कुछ कुरीतियों का खात्मा करना नहीं था। उसका सबसे युगान्तरकारी परिणाम यह हुआ कि यूरोप की धार्मिक एकरूपता और चर्च का धर्म पर एकाधिकार समाप्त हुआ। शुरू में इंग्लैंड जैसे देशों में यह प्रयास ज़रूर किया गया कि देश में एक राष्ट्रीय चर्च हो। मगर समय के साथ धार्मिक सम्प्रदायों की बहुलता पर अंकुश लगाना असम्भव हो गया। कालान्तर में धर्म और राज्य के आपसी जुड़ाव को समाप्त किया गया। यह व्यक्तियों के अपने धर्म चुनने की स्वतंत्रता और शासन में पन्थ–निरपेक्षता लाने में सहायक हुआ।

मध्यकालीन भारत अरब एवं यूरोप में धर्म की स्थिति में आपको क्या समानताएँ और अन्तर नजर आ रहे हैं?

कैथोलिक चर्च की किन बातों से प्रोटेस्टेन्ट असहमत थे?

आपको भारत के भक्ति आन्दोलन, सूफी आन्दोलन और प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन के बीच क्या समानता व अन्तर दिखते हैं?

क्या आपको यह लगता है कि धार्मिक ग्रन्थ आम लोगों की समझ में आने वाली भाषा में ही होने चाहिए? अपना तर्क दें।

क्या आपको लगता है कि हर व्यक्ति को खुद अपने लिए अपने धर्म की व्याख्या करनी चाहिए?

7.2 प्रबोधन (Enlightenment)

XZ5EAC

अठारहवीं सदी वह युग था जिसमें यह लगने लगा था कि तर्क, विज्ञान और उद्यम की मदद से जीवन में सुधार आ सकता है और मनुष्य अज्ञान से ज्ञान की ओर जा सकता है। लेकिन ऐसी प्रगति तब ही सम्भव होगी जब तर्क और विज्ञान किसी के वर्चस्व या सत्ता के आगे झुके या रुके नहीं। यानी ऐसी सामाजिक व्यवस्था हो जिसमें किसी का प्रभुत्व या वर्चस्व न हो और लोग अपने तर्क और ज्ञान के आधार पर निर्णय कर पाएँ। ये विचार *'प्रबोधन'* नामक वैचारिक आन्दोलन के माध्यम से यूरोप में फैले। ये विचार इतने प्रभावी थे कि वे अमरीकी व फ्राँसीसी क्रान्तियों के प्रेरक बने तथा आज भी आधुनिक मानव की सोच पर हावी हैं। ऐसा नहीं है कि इन विचारों का विरोध नहीं हुआ या इनकी आलोचना नहीं हुई। हम आगे प्रबोधन की आलोचनाओं पर भी विचार करेंगे।

प्रबोधन के विचारों को विकसित करने में मुख्य भूमिका फ्राँस के विचारकों की थी। इनमें प्रमुख थे वॉल्तेयर (जन्म सन् 1694, मृत्यु सन् 1778) और दिदेरो (जन्म सन् 1713, मृत्यु सन् 1784)। इनके अलावा स्काटलैंड के दार्शनिक डेविड ह्यूम (जन्म सन् 1711, मृत्यु सन् 1776) और अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ (जन्म सन् 1723, मृत्यु सन् 1790) को भी इसी श्रेणी में रखा जाता है। जर्मनी में प्रबोधन के प्रमुख दार्शनिक थे इमानुवेल कान्ट (जन्म सन् 1724, मृत्यु सन् 1804)। इन विचारों को फैलाने का श्रेय जाता है फ्रेंच भाषा में एम. दिदेरो द्वारा सम्पादित व संकलित विश्वकोश को जिसमें आज के खोजों व विचारों को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया था। आगे हम प्रबोधन के मुख्य विचारों के बारे में पढ़ेंगे।

7.2.1 विकास की अवधारणा

प्रबोधन के चिन्तकों का मानना था कि समय के साथ दुनिया पहले से बेहतर होती जाती है। वर्तमान भूतकाल से कहीं अधिक बेहतर है और मनुष्य विज्ञान, सूझबूझ और उद्यमिता के सहारे आने वाले दिनों में और तरक्की पा सकता है। तरक्की से उनका तात्पर्य था कि मनुष्य विज्ञान और तकनीक की मदद से पहले से कहीं अधिक प्रकृति को नियंत्रित कर सकता है। इमानुवेल कान्ट का मानना था कि विकास का यह मतलब नहीं है कि लोग सुखी या खुश होंगे क्योंकि मनुष्य इतिहास के किसी भी दौर में सुखी या दुखी हो सकता है। उनका मानना था कि विकास का वास्तविक मानदण्ड है मनुष्य की स्वतंत्रता में वृद्धि और जीवन में विकल्पों की प्रचुरता। आधुनिक काल उन्नत इसलिए है क्योंकि मनुष्य पहले से अधिक स्वतंत्र है और वह विभिन्न जीवन–शैलियों के बीच चुनाव कर सकता है।

क्या आपको लगता है कि आज का मनुष्य सौ साल के पहले के मनुष्य से अधिक विकसित है। किन मायनों में आज मनुष्य का जीवन सौ साल पहले के जीवन से बेहतर है और किन मायनों में बदतर है?

प्रगति से आप क्या समझते हैं – समृद्धि, सुख, खुशी, स्वतंत्रता। इनमें से कौन से शब्द को आप प्रगति के सबसे अधिक निकट पाते हैं?

7.2.2 तर्क या बुद्धि का युग

प्रबोधन के विचारकों का मानना था कि इस युग में तार्किक चिन्तन धीरे–धीरे मनुष्य के निर्णयों को निर्धारित करता है, न कि अन्धविश्वास, धर्म या किसी कुलीन व्यक्ति का कहना। उनका मानना था कि तर्क की मदद से मनुष्य न केवल किसी आधिकारिक व्यक्ति या संस्था पर सवाल उठा सकता है और उनकी छानबीन कर सकता है बल्कि उसकी मदद से मनुष्य विवेकशील और सुखमय जीवन भी जी सकता है। बुद्धि ही मनुष्य को सही रास्ता दिखा सकती है इसलिए प्रबोधन का मुख्य मकसद लोगों में तर्क शक्ति जागृत करना और उसमें विश्वास जगाना है। तत्कालीन विचारक होलबाक के शब्दों में 'हम मनुष्यों में हिम्मत बान्धें, उनमें अपनी ही बुद्धि में विश्वास जगाएँ और सत्य की लालसा जगाएँ ताकि वह अपने ही अनुभवों के आधार पर निर्णय लेना सीखें और किसी दूसरे के द्वारा प्रेरित कोरी कल्पनाओं से ठगे न जाएँ।'

किसी के द्वारा प्रदत्त ज्ञान की जगह अपनी ही बुद्धि व तर्कशक्ति पर निर्भर होने के लिए हिम्मत की क्यों ज़रूरत है?

7.2.3 विज्ञान

प्रबोधन ने माना कि वैज्ञानिक ज्ञान ही सही ज्ञान है। विज्ञान से उनका तात्पर्य था ऐसे निष्कर्ष जिन पर अवलोकनों व प्रयोगों के आधार पर तार्किक रूप से पहुँचा गया हो और जिनका स्पष्ट प्रमाण हो। किसी दैवीय सन्देश या आध्यात्मिक ज्ञान की प्रमाणिकता को स्वीकार नहीं करना चाहिए। उनके विचार में विज्ञान के तरीकों में वह ताकत है जिसकी मदद से हम दुनिया के बारे में सब कुछ पूरी तरह से जान सकते हैं। इसके लिए किसी धर्मग्रन्थ या तथाकथित ज्ञानी के उपदेशों की नहीं बल्कि प्रयोग, अवलोकन और तर्क की ज़रूरत है। प्राचीन काल तथा मध्यकाल में ज्ञान के सम्बन्ध में यह माना जाता था कि वह केवल चीज़ों का व्यवस्थित वर्गीकरण है। प्रबोधन के वैज्ञानिकों के अनुसार ज्ञान का उद्देश्य सूची बनाना नहीं बल्कि चीज़ों के कारणों को समझना है। अब क्यों व कैसे जैसे सवाल कहीं

अधिक महत्वपूर्ण हो गए। वे मानते थे कि इस ज्ञान की मदद से हम नई तकनीकों को विकसित कर सकते हैं जिनसे जीवन अधिक सुखमय हो सकता है।

प्रबोधन के विज्ञान और उसके पहले के विज्ञान में क्या मुख्य अन्तर था?

चित्र 7.7 : वोल्तेयर

7.2.4 विज्ञान बनाम धर्म

प्रबोधन के समर्थकों के विचार में धर्म मनुष्य को अन्धविश्वासी, डरपोक और गुलाम बना देता है। उनका मानना था कि धर्म के नाम पर लड़ाईयाँ होती हैं और मनुष्य का खून बहाया जाता है। वे खास तौर से धर्म पर कैथोलिक चर्च के एकाधिकार के खिलाफ थे। उनका मानना था कि चर्च के एकाधिकार के कारण मनुष्य अपनी बुद्धि पर विश्वास न कर पुजारियों की चमत्कारिक कहानियों पर विश्वास करने लगे और उनकी कठपुतली बने। अधिकांश प्रबोधन चिन्तक नास्तिक नहीं थे बल्कि उनका प्रयास था कि ईश्वर का विज्ञान और स्वतंत्रता सम्मत आधार खोजें। उन्हें डर था कि नास्तिकता मनुष्य को नैतिकता से दूर ले जा सकती है। विज्ञान की मदद से विश्व के बारे में जो जानकारी प्राप्त हो रही है, वह इस बात का प्रमाण है कि सृष्टिकर्ता ईश्वर कितना महान है। लेकिन वे ईश्वर और धर्म को किसी व्यवस्था, संगठन या पुजारियों के हाथ नहीं सौंपना चाहते थे।

क्या किसी धर्म को न मानकर केवल ईश्वर को मानना सम्भव है?

किन परिस्थितियों में धर्म मनुष्यों को जोड़ता है और किन परिस्थितियों में धर्म के कारण लोग आपस में लड़ते हैं?

7.2.5 स्वतंत्रता

प्रबोधन के समर्थक व्यक्तिगत स्वतंत्रता में गहरी आस्था रखते थे और उनका मानना था कि लोगों पर अगर कोई कानून लागू करना है तो वह उनकी सहमति से ही हो सकता है। इस कारण वे हर तरह की गुलामी, गैर–लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ और निरंकुशता के खिलाफ थे लेकिन इसके बावजूद प्रबोधन के कई चिन्तक तत्कालीन निरंकुश शासकों के निकट मित्र और सलाहकार थे। उनके प्रभाव से इन शासकों ने अपने राज्यों में सुधार लाने का प्रयास किया।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता और विज्ञान के विकास में कोई सम्बन्ध देख सकते हैं? बताएँ।

7.2.6 प्रबोधन की आलोचना

जिस समय प्रबोधन आन्दोलन अपने चरम पर था उसी समय यूरोप में औद्योगीकरण के कारण प्रकृति का दोहन, प्रदूषण और मज़दूरों का शोषण हो रहा था। राजनैतिक क्रान्तियों के कारण पुरानी जीवन पद्धतियाँ नष्ट हो रही थीं। उसी समय अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, भारत आदि देशों में जनजातियों में सादगी और भाईचारे का जीवन उन्हें देखने को मिला। जो लोग औद्योगीकरण आदि से त्रस्त थे वे आधुनिक युग की आलोचना करने लगे और उसके साथ विज्ञान और बुद्धिवाद का भी विरोध करने लगे। इनमें रूमानी (रोमांटिसिस्ट) आन्दोलन के दार्शनिक (जैसे रूसो), कवि (लार्ड बॉयरन) और कलाकार प्रमुख थे। वे आधुनिक औद्योगिक युग की जगह एक कल्पित ग्रामीण जीवन जो प्रकृति के विनाश पर नहीं बल्कि उसके साथ सामंजस्य पर आधारित हो, की पैरवी कर रहे थे। वे तेज़ी से लुप्त हो रही लोक कला और संस्कृति को बचाना चाहते थे। जहाँ प्रबोधन ने दुनिया को समझने की विज्ञान की शक्ति का गुणगान किया वहीं रूमानियों (रोमांटिसिस्ट) ने उन बातों पर ध्यान आकर्षित किया जिन्हें भावनाओं व अहसासों से ही समझा जा सकता था। रूमानियों ने प्रबोधन के विकल्प में भारतीय, चीनी और जापानी संस्कृति और साहित्य को सराहा और उनके अध्ययन पर ज़ोर दिया। इसके फलस्वरूप कालिदास जैसे–संस्कृत कवियों की कृतियों का यूरोपीय भाषाओं

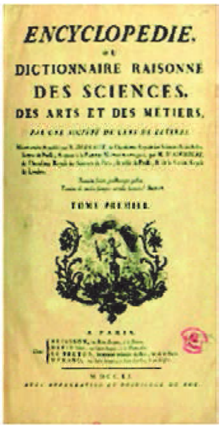

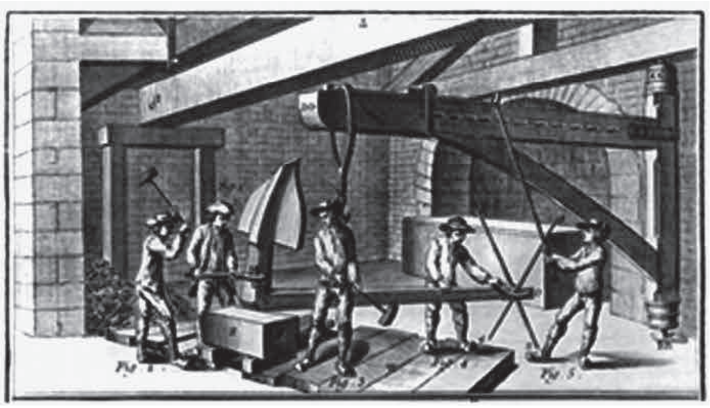

चित्र 7.8 : दिदेरो द्वारा संपादित विश्वकोश का मुखपृष्ठ तथा उसमें छपा एक धातु कारखाने का चित्र

में अनुवाद किया गया। कालिदास के नाटक *शाकुन्तलम* ने रूमानी साहित्यकारों को बहुत प्रभावित किया। रूमानी कलाकारों ने रेनासाँ से शुरू हुए यथार्थवाद को त्याग दिया और स्पष्ट आकृतियों की जगह धुन्धलेपन, तूफानी वातावरण आदि पर जोर दिया। उनके द्वारा दर्शाए गए लोग भी भयभीत या अचम्भित लगते थे।

चित्र 7.9 : सन् 1825 में फ्रांसीसी कलाकार डेलाक्रा द्वारा बनाया गया चित्र – बिजली से भयभीत घोड़ा। इस चित्र में प्रकृति को अजेय शक्ति के रूप में दर्शाने का प्रयास है। इसकी तुलना रेनासाँ के चित्रों से करें।

अभ्यास

XZ6ZZ6

1. मध्यकालीन भारत में परम सत्य के बारे में क्या–क्या कल्पनाएँ थीं?
2. भारत में धार्मिक विविधता का लोगों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा होगा?
3. जाति व्यवस्था ने किस प्रकार लोगों की धार्मिक स्वतंत्रता को प्रभावित किया होगा?
4. अकबर की धर्मसहिष्णु नीति के बनने के पीछे क्या–क्या कारण रहे होंगे?
5. कबीर जैसे विचारकों ने किस प्रकार धर्मों के घेरे से निकलकर ईश्वर भक्ति की बात की?
6. महिला भक्तों की जीवनी में आपको क्या समानताएँ व भिन्नताएँ दिखती हैं?
7. परम्परावादी मुसलमान, दार्शनिक मुसलमान और सूफियों में क्या क्या भिन्नताएँ थीं?
8. मध्यकालीन इस्लामी दार्शनिकों ने किस प्रकार प्राचीन यूनानी दर्शन को आधुनिक विश्व तक पहुँचाया?
9. मध्यकालीन यूरोप में चर्च की भूमिका क्या थी ? इस भूमिका पर धर्मसुधार का क्या प्रभाव पड़ा?
10. मार्टिन लूथर ने किन बातों को लेकर कैथोलिक चर्च की आलोचना की?
11. धर्म सुधार आन्दोलन और धार्मिक स्वतंत्रता के बीच आप क्या सम्बन्ध देख पाते हैं?
12. प्रबोधन की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं? उसका वैज्ञानिक क्रान्ति से क्या सम्बन्ध था?
13. रूमानी आन्दोलन किन बातों पर प्रबोधन से असहमत था?

परियोजना कार्य

1. प्रोटेस्टेंट धर्म और औद्योगिक क्रांति के बीच क्या संबंध थे– पता करें और एक संक्षिप्त निबंध लिखें।
2. वोल्तेयर की जीवनी और विचारों के बारे में पढ़े और कक्षा में चर्चा करें।

**